



रघुवीर सहाय की काव्य भाषा

राघवेन्द्र प्रताप सिंह

शोधार्थी, हिंदी एवं भाषा विज्ञान विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

रघुवीर सहाय की प्रारंभिक दौर की कविता में भाषा के साथ एक खिलवाड़ या खिलदंडापन मिलता है जो संवेदना के विकास के साथ बाद में काव्यगत विडंबना के लिए काम आता है।

रघुवीर सहाय के काव्य संकलन 'सीढ़ियों पर धूप' की भूमिका अज्ञेय ने लिखी थी। इस भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है कि 'निसंदेह रघुवीर सहाय शिल्पी हैं, कुशल शिल्पी हैं, 'कच्चे माल' के कच्चेपन को ही साहित्यिक मूल्य बनाना उनका इष्ट नहीं है पर वास्तव में माल को वह बराबर पहचानते रहना चाहते हैं। भाषा की यह सहज प्रवाधान प्रसादमयता उनकी कविता में भी ज्यों की त्यों है। कविता भाषा का विशिष्ट प्रयोग तो है ही और भाषा-शैली का विशिष्ट प्रयोग रघुवीर सहाय भी अनिवार्यता करते ही हैं (सीढ़ियों पर धूप में) अज्ञेय कविता को भाषा का एक प्रयोग, एक अन्वेषण मानते हैं। काव्यवस्तु के बजाय शिल्प या भाषा को वे ज्यादा महत्व देते थे इस अर्थ में वे रूपवादी थे। मगर रघुवीर सहायता अज्ञेय की मान्यताओं से सहमत नहीं थे। उन्होंने लिखा है 'शिल्प और अन्य प्रासंगिक उपकरण अपने में विश्लेषण के विषय हो सकते हैं, ब्योरेबार अध्ययन करने वालों के लिए, पर वहां से परीक्षण आरंभ नहीं किया जाना चाहिए। जाहिर है कि रघुवीर सहाय उस काव्यतत्व का अन्वेषण करने पर ज्यादा जोर देते थे जो कला की सौंदर्य परंपरा को आगे बढ़ाता है। काव्यकला की भी अपनी एक सापेक्ष स्वायत्त परंपरा है जो कवियों के द्वारा अन्वेषण और प्रयोग से, नयी भाषा और नये शिल्प से आगे बढ़ती है। काव्य भाषा की अलग से पहचान नयी लय, नये छंद गठन, नये देशज शब्दों के प्रयोग और अंततः कथ्य को कहने की नयी भंगिमा के माध्यम से बनती है। हर कवि यह कोशिश करता है कि उसका अपना अंदाज-ए-बयां हो। आइये, देखें, रघुवीर सहाय की कविता किस तरह इस काव्य सौंदर्य की परंपरा को एक नयी काव्यभाषा और लय के नये प्रयोगों के माध्यम से आगे ले जाती है।

'सीढ़ियों पर धूप में' और 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में भाषा का यह क्रीड़ाभाव खुब मिलता है। इस क्रीड़ाभाव से कविता में नाटकीयता का गुण आता है। शुरू के दिनों की उनकी एक मशहूर कविता, 'दुनिया' की भाषा में यही क्रीड़ाभाव देखा जा सकता है।

लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या है यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं लोग सिर्फ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम लोग लोग ही लोग हैं चारों तरफ लोग, लोग लोग मुंह बाये हुए लोग और आंख चुधियाये ये हुए लोग कुढ़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग दुनिया एक बजबजाती हुई चीज हो गयी है। (सीढ़ियों पर धूप में पृ. 139)

इसी तरह के भाषिक खिलदंडापन की एक और कविता भी मध्यवर्गीय लोगों के बारे में है, 'सभी लुजलुजे है' जिसमें वाचक ऐसे चुने हुए शब्द इस्तेमाल करता है जो कविता में शायद ही कभी प्रयुक्त हुए हों, 'खेखियाते हैं, किंकियाते हैं, घुन्नाते हैं/ चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं/ मिनमिनाते हैं, कुडकुड़ते हैं/ सो जाते हैं, बैठ रहते हैं, बुत्ता दे जाते हैं..' यही क्रीड़ाभाव 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं तक पहुंचते-पहुंचते एक ऐसी आयरनी में तब्दील हो गया जिससे उनकी कविता, महेश आलोक के शब्दों में, 'एक मजबूत शोषणतंत्र या व्यवस्था के खिलाफ, अमानवीयता के खिलाफ, हत्या-पंडयत्र और मनुष्यता के पतन के खिलाफ, राजनैतिक अवसरवादिता के खिलाफ आम आदमी के गुस्से को पूरे संघर्षशील तेवर और उसकी कमजोरियों, लाचारियों और कमियों के साथ खड़ा करने और पूरे मानवीय जीवट के साथ मुठभेड की कविता 'हो जाती है।' (इंद्रप्रस्थ भरती, जनवरी-मार्च) उनके इस विकास को उन्हीं की एक कविता से परखा जा सकता है

यही मेरे लोग हैं
यही मेरा देश है
इसी में रहता हूँ
इन्हीं से कहता हूँ
अपने आप और बेकार
लोग लोग लोग चारों तरफ हैं मारा तमाम लोग
खुश और असहाय

उनके बीच में सहता हूँ
उनका दुख
अपने आप और बेकार

इन पंक्तियों तक की काव्ययात्रा कवि की संवेदना के विकास की यात्रा। इसीलिए भाषा का खेल अब विंडबना और गंभीर अर्थवत्ता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। संवेदना के इस विकास को उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में भी देखा जा सकता है

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्मा सत्ता का मेरे अंदर
एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूट अब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट

भाषा का खिलवाड़ यहां काफी गंभीर आयरनी का सृजन कर रहा है, वाचक में खुद अपने भीतर व्यक्तित्तरण की मांग उठ रही है, अपने भीतर के मकड़जाल (तिलिस्म) से उबरने की आकांक्षा उदित हो रही है।

काव्यभाषा के विकास में एक मंजिल ऐसी भी आयी जिसमें कवि ने बहुत सारे नाटकीय पात्रों की रचना की। शुरू के दौर में मजाकिया लहजे में कुछ पात्रों का सृजन रघुवीर सहाय ने किया था, जैसे 'शांति दो' कविता में 'चाहे वह क्रांति की बहन की क्या न हो'। मगर बाद में 'नेकराम नेहरू' और 'वाजपेयी' से लेकर 'हरचरना', 'मुसद्दीलाल', 'चंद्रकांत', 'दयाशंकर' आदि अनेक तरह के पात्र अपनी पूरी नाटकीय और वर्गीय विशेषताएँ लेकर आये और फिर 'रामदास' जैसा प्रातिनिधिक पात्र उनकी कविता में आया। ये पात्र किसी नाटकीय मुद्रा के विज्ञान के लिए नहीं, जीते जागते यथार्थ को प्रभावी और विश्वसनीय तरीके से पेश करने के लिए उनकी कविता में आये।

एक स्तर पर ऐसा लगता है कि यह कविता आधुनिकतावादियों की काव्यभाषा का अनुकरण करती हुई मनुष्य के आत्मनिर्वासन की को दोहरा रही है। लेकिन गौर से देखें तो काव्यभाषा में नये प्रयोग के रूप में जिस 'हाहातूती नगरी' को चित्रित किया गया है, उसमें वे भी हैं जो अपने हैं और वे भी जो पराये हैं। यह अपने और पराये की पहचान आधुनिकवादियों के यहाँ खो गयी थी, क्योंकि उनके यहाँ खो गयी थी, क्योंकि उनके यहां तो 'जो मेरा है वही ममेतर है' (अज्ञेय) रघुवीर सहाय 'हाहातूती नगरी' जैसे भाषिक प्रयोग से पूरी पूंजीवादी सभ्यता की मारधाड़वाली, स्पर्धावाली चीख पुकार व्यक्त कर देते हैं जिसमें सेठ, नेता, कमिश्नर भी हैं, 'वे सब सुहृद हैं, सर्वत्र हैं'। यह भाषा एक लय पैदा करती है जिसमें परंपरागत वृत्यानुप्रास स्वतः ही आ गया। मगर कथ्य के स्तर पर वह अपनों की पहचान कराने करने के लिए यह आवृत्ति करता है। इन अपनों ('सहृद')की बदौलत ही कविता का

वाचक यह विश्वास रखता है कि।

सारे संसार में फैल जायेगा एक दिन मेरा संसार
सभी मुझे करेंगे। दो चार को छोड़ें। कभी न कभी प्यार
मेरे सृजन, कर्म-कर्तव्य, मेरे आश्वासन, मेरी स्थापनाएँ
और मेरे उपार्जन, दान-व्यय, मेरे उधार
एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे। ये मेरे महत्व

कविता के इस अंश में दार्शनिक स्तर पर जाती हुई काव्यभाषा को फिर से वाचक मोड़ कर 'तंत्रिनाद कवित रस' के स्तर पर ले आता है जिससे कि अपने कथन को 'लिरिकल' (आत्मबद्धता) से उबार कर 'ड्रैमेटिक (सार्वजनिक) स्तर पर ले जा सके। तभी काव्यभाषा में उसे कहना पड़ता है कि 'डूब जायेगा..... मेरा यह मामत्व'। आत्म के 'सारे संसार में फैल' जाने और 'दो चार को छोड़' सभी का यानी विस्तृत जनसंमूह का प्यार पाने की उद्दाम लालसा और विश्वास पक्षधरता के बगैर संभव नहीं, इसीलिए काव्यभाषा में यह सावधानी बरती गयी है और 'हाहातूती नगरी' के नागरिकों के भी भेद दिये गये हैं और उन सबे के बीच भी दोस्त और दुश्मन का संकेत कर दिया गया है, 'दो चार' यानी कम तादाद में वे शोषक ही हैं जिनसे वाचक को प्यार नहीं मिलेगा।

उन्होंने काव्यभाषा के बारे में लगभग अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ की तरह अपने 'वक्तव्य' में कहा था कि 'भाषा को साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है, मगर उसमें भी कहीं-कहीं भाषा की फिजूलखर्ची करनी पड़ी है। भाषा के बारे में ईमानदारी में ही यथार्थ की सश्लिष्टता और शब्द की सीमा को व्यक्त करने के लिए भाषा की काफी फिजूलखर्ची करनी पड़ी है। कविता के पहले खंड में एकदम बोलचाल की भाषा है 'नाक, दांत, मुंह' जैसे शब्द हैं, मगर वही 'मुंह' अंतिम पंक्ति में 'मुख' हो जाता है क्योंकि उसे 'आभा' की संगति में रखना जरूरी था, बल्कि अंतिम खंड की पूरी संस्कृतिष्ठ और दार्शनिक शब्दावली के अनुकूल रखना था। यथार्थ और उसकी छवि, इमेज के बीच शब्द जैसे माध्यम की अपर्याप्तता का कथ्य इस दुहरे भाषा-प्रयोग के लिए अनिवार्य बन गया था। इस अपर्याप्तता को ही उन्होंने 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' संग्रह की एक कविता, 'दर्द' में रखा, मगर वह कविता, भाषा की बहुलार्थक प्रकृति के कारण खुद कई अर्थों वाली हो गयी क्योंकि उसमें एक विडंबना भी चित्रित है

देखो शाम घर जाते बाप के कंधे पर
बच्चे की ऊब देखो
उसको तुम्हारी अंग्रेजी कह नहीं सकती
और मेरी हिंदी
कह नहीं पायेगी
अगले साल

अरुण कमल ने अपने लेख में यह सही कहा है, कि 'नागार्जुन के बाद रघुवीर सहाय में हमें भाषा की अनेक मुद्राएँ मिलती हैं। बोलचाल की नाटकीयता, वक्रता, लोच। कविता की भाषा को बाली के इतना करीब लाने में रघुवीर सहाय का सानी नहीं।' (रघुवीर सहाय, संपादक: विष्णु नागर, असद जैदी) अरुण कमल ने रघुवीर सहाय की इस विशेषता को रेखांकित करने के लिए उनकी एक कविता का जो अंश

उद्धृत किया है वह सचमुच देखने लायक है।
कोने में खटिया पर जा करके पहुँच रही
वह पहुँची रही साल भर तक फिर गुज़र गयी
औरतें उठीं घर धोया मर्द गये बाहर
अर्थी ले कर
(पृ. 102)

काव्यभाषा की एक अन्य कमज़ोरी, बहुलार्थकता (एम्बीगुइटी) की ओर भी उन्होंने कई जगह इशारा किया था। भाषा के 'सिमनीफाइड' और 'सिग्नीफाइड' के बीच के द्वंद्व को उन्होंने पश्चिम के भाषाचिंतकों या संरचनावादियों, सोस्यूर या रोलां बार्थ की रचनाओं से नहीं, अपने खुद के चिंतन से समझा था। वे परंपरागत काव्यभाषा के अलंकृत, बहुलार्थक रूप से अलग ऐसी काव्यभाषा रचने के प्रयास में थे जो ठीक-ठीक वही कर सके जो उनका प्रयोजन था। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने रघुवीर सहाय की भाषा संबंधी चिंता के बारे में सही ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय की चिंता भाषा को लेकर बहुत दिखलायी पड़ती है। उन्हें एक तो चिंता इस बात की है कि उनकी काव्यभाषा किताबीपन या रीतिवादिता से मुक्त रहे, दूसरे वह छंद हिंदी न हो, वह भाषा के दोमुहेपन से बचने का आग्रह करते हैं।' (प्रतिपक्ष, जनवरी 1991) रघुवीर सहाय ने सही-सही काव्यभाषा के लिये किये गये अपने संघर्ष के बारे में कहा भी है कि 'जो मैं जानता हूँ, यानी भाषा मेरे साथ मनमानी करना चाहती है और मैं उसको इससे रोकना चाहता हूँ, और यह संघर्ष चलता रहता है।' (लिखने का कारण) अपनी एक कविता की बहुचर्चित पंक्ति में भी उन्होंने यह कहा है कि, 'भाषा की बधिया हमेशा वक्त के सामने बैठ जाती है।' यह संघर्ष वह सब कह डालने का था जो लोकतांत्रिक मूल्यव्यवस्था के संकल्प के बिल्कुल विपरीत समाज में घटित होता दिखायी दे रहा था। सत्ताधारी वर्गों की असलियत उजागर करने के लिए जिस भाषा की दरकार थी, 'वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं / जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा।' इसलिए 'दो अर्थ का भय' कविता में वे लिखते हैं:

इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों

रघुवीर सहाय की भाषा संबंधी अन्वेषणवृत्ति के बारे में हमेशा आलोक ने ठीक ही कहा है कि 'नयी और जीवित भाषा की तलाश की लंबी प्रक्रिया से गुजरते हुए रघुवीर सहाय निरंतर शब्दों की रचनात्मक गरमाहट, खरोच और उसकी आंच को उत्सवधर्मी होने से बचाते हैं और लगभग कविता के लिए अनुपयुक्त हो गये शब्दों की अर्थ सघनता को बहुत हल्के से खोलते हुए एक खास किस्म के गद्यात्मक तेवर को रिटौरिकल मुहावरे में तब्दील कर देते हैं।' (इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 1991) इस नयी और जीवित भाषा की तलाश रघुवीर सहाय किसी नये शिल्प की खोज या 'कला के लिए कला' के नये उपकरणों का अनुसंधान करने के उद्देश्य से विकास के रास्ते में आने वाले खतरों से साधारण जन को आगाह करने के लिए अलग तरीके से भाषा खोज रहे थे जो कारगर हो सके क्योंकि हर तरह की भाषा को उस पूंजीवादी राजनीति ने अर्थहीन कर दिया है जिसने साधारण जन को बदहाल कर दिया है, उसे मार दिया है।

रघुवीर सहाय ने अपनी कविता में कथ्य के अनुरूप जहाँ छंदबद्ध कविताएँ रचीं, वहीं छंदमुक्त और गद्यमय रचनाएँ भी लिखी गद्यमय। प्रारंभिक दौर में वे लय को एक खास किस्म के भाषिक खिलवाड़ के लिए इस्तेमाल करते थे। बाद में जैसे-जैसे उनमें वचारिक परिपक्वता और साधारण जन के साथ प्रतिबद्धता विकसित हुई उन्होंने भाषा की लय का तरह-तरह से प्रयोग किया और उससे बहत ही प्रभावकारी रचनाएँ हिंदी साहित्य को दी। विनोद दास ने ठीक ही कहा है कि 'रघुवीर सहाय काव्य वस्तु की शिराओं में ज्यादा रक्त पहुँचाने के उद्देश्य से अपने काव्य शिल्प की विविधता में उनके लोकतांत्रिक मिजाज की झलक मिलती है। उन्होंने जहाँ कविता में गद्य सरीखे वाक्यांशों के लिए जगह बनायी, वहीं लय को भी नहीं छोड़ा।

रघुवीर सहाय ने कहा है कि 'आधुनिक कविता में संसार के नये संगीत का विशेष स्थान है और वह आधुनिक संवेदना का आवश्यक अंग है। मैंने अपनी कुछ कविताओं में संगीत की खोज की है।' इस कथन से कवि की लय के संबंध में एक दृष्टि मिलती है। उनकी प्रारंभिक कविताओं में जहाँ छंद नहीं भी है, एक लय जरूर है। मसलन, सीढ़ियों की लय का आस्वाद जरूर मिलेगा। दूसरी कविता, 'शक्ति दो' की पंक्तियाँ देखिए।

शक्ति दो, बल हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तार घर तक पहुँचा
आयें
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा....
शक्ति दो

संदर्भ

1. सीढ़ियों पर धूप

2. सीढियों पर धूप
3. सीढियों पर धूपे
4. सीढियों पर धूप
5. इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी-मार्च 1991
6. सीढियों पर धूप
7. रघुवीर सहाय, संपादक : विष्णु नागर, असद जैदी
8. प्रतिपक्ष, जनवरी 1991
9. लिखने का कारण
10. इंद्रप्रस्थ भारती जनवरी-मार्च 1991
11. कुछ पत्ते कुछ चिट्ठियाँ
12. रघुवीर सहाय, संपादक विष्णु नागर व असद जैदी,
13. प्रतिष्ठा, जनवरी, 1991